बाल-दीक्षा और जैनागम

लेखक—

श्रीचन्द रामपुरिया

प्रकाशक—

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी सभा

२०१, हरीसन रोड, कलकत्ता।

बालदीक्षा और जैनागम

गताङ्क मे हमने यह दिखाने की चेष्टा की थी कि बीकानेर रियासत में 'बाल-दीक्षा रोक कानून' बनने की कोई जरूरत नही। चूकि वहाँ जैनेतर जनता में दीक्षा जैसी कोई वस्तु प्रचलित नही, इसलिए उनको उद्देश्य कर कानून बनानेकी जरूरत नही रहती। वहाँ की जैन जनता मे अधिकांश भाग तेरापन्थियो का है और उनमे शास्त्र विहित दीक्षा ही धर्मानुकूल तरीके से दी जाती है। तेरापन्थी सिवा अन्य जैन सम्प्रदायो मे भी वहाँ दीक्षाएं बहुत कम देखने मे आती हैं, ऐसी हालत मे 'बाल-दीक्षा' और बाल दीक्षितो' के सम्बन्ध मे गल्तफहमियाँ फैला कर जो बीकानेर मे "बाल दीक्षा कानून" बनाने की आवश्यकता बतलाई जाती है, वह अर्थ शून्य है।

हाल मे "बाल दीक्षा विवेचन" नामक एक पुस्तक हमारे देखने में आई। यह पुस्तक श्री चम्पालालजी बाँठिया के बाल दीक्षा निषेधी आन्दोलन का ही एक अश है और इसके लेखक है प० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, एम० ए० शास्त्राचार्य, वेदान्त वारिधि, न्याय तीर्थ। पुस्तक मे यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि बाल-दीक्षा सामाजिक और राष्ट्रीय दृष्टि से ही वर्जनीय नही परन्तु उसके पीछे धर्मशास्त्रो का भी आधार नही है। यह बात भी प्रतिपादन करने का साहस किया गया है कि जैनागमो मे भी बाल दीक्षा का विरोध और निषेध है और उसके समर्थन मे कतिपय सूत्रोके यथाकथित दाखले भी दिये है। लेखक शास्त्राचार्य, वेदान्त वारिधि, न्याय तीर्थ ही नही परन्तु एम० ए० भी है इसलिये उनकी लिखी हुई बात की कीमत साधारण जनता द्वारा बहुत ऊँची आँकी जा सकती है। जहाँ तक हमारी धारणा है बाल दीक्षा जैनागम विहित है और उसके प्रचुर प्रमाण सूत्र-साहित्य में उपलब्ध हैं। ऐसी हालत मे हमारा कर्तव्य है कि हम इस विषय को स्पष्ट करे जिससे साधारण जनता भूल भुलैया मे न पड़े। हम यह भी चाहते हैं कि पंडितजी वास्तविक वस्तु-स्थिति को देखे और किसी उठाए हुए विषय के प्रतिपादन में केवल अप्रासगिक सूत्र वचनो को उद्धृत कर ही दुनिया को भड़काने की चेष्टा न करें। बाल-दीक्षा के समर्थन मे उपलब्ध प्रमाणो को उपस्थित करने के पहले हम उन प्रमाणों की मीमासा करेंगे, जो कि शास्त्रीजी ने अपनी पुस्तक में उपयोग किये हैं।

पुस्तक के पृ० २६ पर पण्डितजी ने लिखा है "मूल आगमों मे कई स्थानो पर बड़ी उम्र वालो को दीक्षा देने को कहा है। थोड़े उदाहरण यहाँ दिए जाते

हैं"—इसके बाद पण्डितजी ने जो उदाहरण दिये हैं उन्हें हम नीचे एक-एक कर क्रमशः देते हैं :—

१—मज्झिमेणं वयसा एगे सबुज्झमाणा समुट्ठिता

इसका अर्थ इस प्रकार किया है —"(युवा, प्रौढ़ तथा वृद्ध इन तीनों में) मध्यम अर्थात् प्रौढ अवस्था वाला बुद्धि परिपक्व होने के कारण दीक्षा के विशेष योग्य होता है।"

यह गाथा आचारांग सूत्र, अध्ययन ८, उद्देश ३ की पहली गाथा है। इस गाथा का वास्तविक अर्थ है :— "मध्यम वय में कितनेक जीव प्रतिबोध पाकर दीक्षा लेते हैं[1] ।"

पाठक देखेंगे कि इस गाथा में 'बाल-दीक्षा' के विरोध की कोई बात नहीं है, और न इस में यही कहा है कि बडी उम्र वाले को दीक्षा देनी चाहिए। इस गाथा में तो उनके लिए आशा भरी हुई है, जो मध्यम वय में धर्म रुचि प्राप्त करने पर अपनी पूर्व आयु योंही व्यर्थ खो चुकने के लिये पश्चाताप करने और निराश होते हैं। ऐसे मध्यम वय वाले पुरुषों को उद्देश कर भगवान ने कहा है—"कितने ऐसे भी होते है जो मध्यवय मे प्रतिबोध पाकर दीक्षा लेते हैं।" ऐसा कह कर भगवान मानो यह कहना चाहते हैं कि निराश होने की जरूरत नही। तुम्हे उनके आदर्श का अनुकरण करना चाहिये, जो मध्यम वय मे बोध पाकर धर्म मे समुद्धित होकर प्रव्रजित हुए है। यहाँ पर हम दसवैकालिक सूत्र अ० ४ की निम्न लिखित गाथा की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित करते है जिससे हमारी बात की पुष्टि होगी और उपरोक्त उद्धरणका अर्थ और भी स्पष्ट हो जायगा।

पच्छा वि ते पयाया खिप्पं गच्छन्ति अमरभवणाइं।
जेसिं पियो तवो संजमो य खन्तीय बम्भचेरं च ॥गा० २८॥

जिन्हे तप, संयम, क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय होता है, वे प्रव्रजित होने में देर कर चुके होने पर भी शीघ्र ही देवलोक को पहुचते है। आचारांग सूत्र के पाठ में 'एगे' शब्द खास महत्व का है और उससे मध्यम वय दीक्षा के लिए मध्यम ही ठहरता है उत्तम नही, क्योंकि थोड़े ही ऐसे होते है जो कि मध्यम वय तक विषय भोग

१—देखिए आचाराङ्ग सूत्र—प्रोफेसर रवजी भाई देवराज तथा जैन स्कालर्स कृत अनुवाद पृ० ११५;

Sacred Books of the East Vol XXII Jain Sutras Part I Acharang Sutra Lecture 7. Lesson III P 66

में रक्त रह कर बाद में धर्म के प्रति दृढ़ रुचि धारण कर प्रबल पुरुषार्थ प्रकट कर सके।

पण्डितजीने दूसरा दाखला ठाणांग सूत्र का दिया है। "ठाणांग सूत्र के दसवे ठाणे मे दस प्रकार के मुण्ड बताए गए हैं—कान, नाक, आँख, जीभ और स्पर्शन इन पाँच इन्द्रियो से मुण्डित अर्थात् इनके विषयों को जीतने वाला, क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायो से मुण्डित अर्थात् इन कषायोंको नष्ट कर देने वाला; और दसवाँ शिरोमुण्ड अर्थात् लोचकर सिर को मुण्डाने वाला। इसका अर्थ यही है कि क्रमशः नौ बातों मे मुण्डित हो जाने पर फिर सिर मुण्डाना चाहिए।"

पण्डितजी ने स्थानाङ्ग सूत्र के जिस पाठ का सहारा लिया है, वह मूल मे इस प्रकार है

"दस मुंडा पन्नता प० तं—सोतिंदितमुंडे जाव फासिंदित मुंडे कोहमुंडे जाव लोभमुण्डे दसमे सिरमुण्डे (सू० ७४६)"

इस पाठ को नवाङ्गी टीकाकार अभय देव सूरिने निम्न लिखित रूप से स्पष्ट किया है।

सिद्धिगतिं मुण्डानामेव भवतीति मुण्डानिरूपणायाह—'दसे' इत्यादि—मुण्डयति—अपनयतीति मुण्ड, स च श्रोत्रेन्द्रियादिभेदाद् दशधेति, शेषं सुगमं।"

पाठक देखेगे कि मूल पाठ व टीका में एक भी ऐसा शब्द नहीं, जिससे यह प्रतिपादित हो कि बाल दीक्षा शास्त्रो से अप्रमाणित है और न इस पाठ मे इसका भी जरा सा भी संकेत है कि दीक्षा बड़ी उम्रवालों को ही देनी चाहिए। शास्त्रीजी ने यह पाठ शास्त्रो की अपनी जानकारी के प्रतीक रूप दिया हो तो भले ही वह शोभा दे अन्यथा वह सर्वथा अप्रासंगिक है और विषय प्रतिपादन मे जरा भी अनुकूल नही है। पण्डितजी ने मुण्ड होने का जो क्रम ठहराया है वह भी अर्थ शून्य है।

अब हम शास्त्रीजी के तीसरे प्रमाण पर विचार करते हैं। दसवैकालिक सूत्र का १० वाँ अध्ययन 'स भिक्खू' नाम से प्रसिद्ध है। इस अध्ययन में साधु के आचार की ओर निर्देश करते हुए सच्चा साधु कौन है, इस विषय का बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। साधु के स्वरूप को बतलाने वाले इस अध्याय की ११ से १४ तथा १७ से १६ तककी गाथाओं को उद्धृत कर, निष्कर्ष रूप में पण्डितजी कहते हैं—"साधु बनने की उपरोक्त बाते आजकल छोटे बालकों में

आना कठिन ही नही असम्भव है।" स्थान की परवाह न कर हम उपरोक्त 'स भिक्खू' नामक दसवैकालिक सूत्र के १० वें अध्याय की समूची गाथाओं का हू बहू अर्थ यहाँ देते हैं . --

"ज्ञानी पुरुषो के उपदेश से संसार-त्याग करने के बाद तीर्थङ्कर आदि बुद्ध पुरुषों के वचनोंमे नित्य समाधि भाव रखना चाहिए। जो भिक्षु होकर स्त्रियों के वश नही होता, जो वमन किये हुए को फिर से नही पीता, वही भिक्षु है ॥ १ ॥

जो पृथ्वी नही खोदता और न खुदवाता है, जो खुद ठण्डा पानी नही पीता और न पिलाता है, जो अग्नि रूपी शस्त्रको खुद नही जलाता और न जलवाता है, वही भिक्षु है ॥२॥

जो पंखे आदि से खुद हवा नही लेता और न लिराता है, जो हरी वनस्पति को नही छेदता और न छिदाता है, जो बीजो का सदा वर्जन करता और सचित्त का भोजन नही करता, वही भिक्षु है ॥ ३ ॥

पृथ्वी, तृण और काष्ठ मे रहे हुए त्रस स्थावर जीवो का नाश होने से जो उद्देशिक आहार नही लेता तथा जो निजमे नही पकाता और न दूसरो से पकवाता है, वही भिक्षु है ॥ ४ ॥

जो ज्ञात पुत्र—भगवान महावीर के प्रवचनो पर श्रद्धा रख कर छः काय के जीवों को अपनी आत्मा के समान मानता है जो अहिंसा आदि पाँच महाव्रतो का पूर्ण रूप से पालन करता है, जो पाँच आस्रवो का संवरण अर्थात् निरोध करता है, वही भिक्षु है ॥ ५ ॥

जो सदा क्रोध, मान, माया और लोभ—चार कषायो का परित्याग करता है, जो ज्ञानी पुरुषों के वचनो पर दृढ विश्वासी रहता है, जो चाँदी, सोना आदि किसी भी प्रकार का परिग्रह नही रखता जो गृहस्थो के साथ कोई सासारिक स्नेह सम्बन्ध नही जोडता, वही भिक्षु है ॥ ६ ॥

जो सम्यग्दर्शी है, जो कर्त्तव्य-विमूढ नही है, जो ज्ञान, तप और संयम का दृढ श्रद्धालु है, जो मन, वचन और शरीर को पाप-पथ पर जाने से रोक रखता है, जो तप के द्वारा पूर्व-कृत पाप-कर्मो को नष्ट कर देता है, वही भिक्षु है ॥७॥

जो नाना प्रकार के अन्न, पान, खाद्य और स्वाद्य को प्राप्त कर वे कल या परसों काम में आयेंगे इस विचारसे उन्हें रातवासी नही रखता और नहीं रखाता है, वही भिक्षु है ॥ ८ ॥

जो विविध अन्न, पानी, खाद्य, स्वाद्य प्राप्त कर स्वेच्छा से सहधर्मियों को निमन्त्रित कर भोजन करता है और भोजन कर जो स्वाध्याय मे लीन होता है, वही भिक्षु है ॥ ९ ॥

जो कलहकारी वचन नही कहता, जो क्रोध नही करता, जिसकी इन्द्रियाँ अचंचल हैं, जो प्रशान्त है, जो संयम मे ध्रुव योगी (सर्वथा तल्लीन) रहता है, जो संकट आने पर व्याकुल नही होता, जो कभी योग्य कर्त्तव्य का अनादर नहीं करता, वही भिक्षु है ॥ १० ॥

जो कान मे काटे के समान चुभने वाले आक्रोश वचनो के प्रहारो को तथा अयोग्य उपालम्भो को शान्ति पूर्वक सह लेता है, जो भाषण अट्टहास और प्रचण्ड गर्जना वाले स्थानो मे भी निर्भय रहता है, जो सुख-दुःख दोनों को एक समान समभाव पूर्वक सहन करता है, वही भिक्षु है ॥ ११ ॥

जो श्मशान मे पडिमा ग्रहण कर भयङ्कर रूप व शब्दो मे नही डरता, जो नित्य विविध गुणो और तपो की आराधना मे लीन रहता है और जो धर्माराधन मे शरीर की परवाह नही करता, वही भिक्षु है ॥ १२ ॥

जो अपने शरीर को वोसरा देता है, जो फटकारे जाने, मार जाने या जखम किये जाने पर पृथ्वी के समान समभावी होता है, जो फल की कामना नही करता और अकुतूहली होता है, वही भिक्षु है ॥ १३ ॥

जो शरीर से परिषहों को धैर्य के साथ सहन कर संसार-गर्त से अपना उद्धार कर लेता है, जो जन्म मरण को महा भयङ्कर जान कर सदा श्रमणोचित तपश्चरण में रत रहता है, वही भिक्षु है ॥ १४ ॥

जो हाथ, पॉव, वाणी और इन्द्रियो का यथार्थ सयम रखता है। जो सदा अध्यात्म-चिन्तन मे ही रत रहता है, जो अपने-आप को भली भाँति समाधिस्थ करता है, जो सूत्रार्थ का पूरा जानने वाला है, वही भिक्षु है ॥ १५ ॥

जो अपने सयम-साधक उपकरणो तक मे भी मूर्च्छा (आसक्ति) नही रखता, जो लालची नही है, जो अज्ञात परिवारों के यहाँ से भिक्षा मागता है, जो सयम-पथ में बाधक होने वाले दोषों से दूर रहता है, जो खरीदने-बेचने और सग्रह करने के गृहस्थोचित धन्धों के फेर मे नही पड़ता, जो सब प्रकार से निःसग रहता है, वही भिक्षु है ॥ १६ ॥

जो मुनि अलोलुप है, जो रसों मे अगृद्ध है, जो अज्ञात कुल की भिक्षा करता

है जो जीवन की चिन्ता नही करता, जो ऋद्धिसत्कार और पूजा-प्रतिष्ठा का मोह भी छोड़ देता है, जो स्थितात्मा तथा निस्पृही है वही भिक्षु है ॥ १७ ॥

जो दूसरों को "यह दुराचारी है" ऐसा नही कहता, जो कटु वचन—जिस से सुनने वाला क्षुब्ध हो नही बोलता, "सब जीव अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही सुख दुःख भोगते है"—ऐसा जान कर जो दूसरों की निन्द्य चेष्टाओ पर लक्ष्य न देकर अपने सुधार की चिन्ता करता है, जो अपने-आप को उग्र तप और त्याग आदि के गर्व से उद्धत नही बनाता, वही भिक्षु है ॥ १८ ॥

जो जाति का अभिमान नही करता, जो रूप का अभिमान नही करता, जो लाभ का अभिमान नही करता, जो श्रुत (पाण्डित्य) का अभिमान नही करता, जो सभी प्रकार के अभिमानो का परित्याग कर केवल धर्म-ध्यान मे ही रत रहता है, वही भिक्षु है ॥ १९ ॥

जो महामुनि आर्य पद (सद्धर्म) का उपदेश करता है, जो स्वयं धर्म मे स्थित होकर दूसरो को भी धर्म मे स्थित करता है, जो घर-गृहस्थी के प्रपञ्च से निकल कर सदा के लिये कुशील लिग (निन्द्य वेश) को छोड देता है, जो किसी के साथ हसी-ठट्ठा नही करता, वही भिक्षु है ॥ २० ॥

इस भॉति अपने को सदैव कल्याण पथ पर खड़ा रखने वाला भिक्षु अपवित्र और क्षणभङ्गर-शरीर मे निवास करना हमेशा के लिये छोड देता है, जन्म-मरण के बन्धनो को सर्वथा काट कर अपुनरागम-गति (मोक्ष) को प्राप्त होता है ॥२१॥'

पाठक देखेगे कि उपरोक्त अवतरण में एक भी ऐसा शब्द नही, जिसमे बडी उम्रवालों को दीक्षा देने का कहा हो या जिसमे बाल-दीक्षा को अयोग्य बतलाया गया हो। साधु-जीवन कठिन अवश्य है, परन्तु इसी कारण से वह बालक बालिकाओ के लिये अग्राह्य नही कहा जा सकता।

दुर्धर साधु जीवन की ऐसी महिमा है कि उसे ग्रहण कर जो अच्छी तरह पालन करता है, फिर चाहे वह बालक हो, यवान हो या बुड्ढा, स्त्री हो या पुरुष, जन्म-मरण के बन्धनों को सर्वथा काट कर अपुनरागम-गति मोक्ष को पाता है।

पण्डितजी आजकल के भोले बालकों के सम्बन्ध मे जैसी धारणा रखते हैं, वैसी ही प्राचीन काल मे उस समय के बालकों के सम्बन्ध मे भी की जाती थी। परन्तु उस समय में भी ऐसे पुरुषार्थी बालक हुए, जिन्होंने इन गाथाओ में चित्रित उन्नत जीवन का अक्षरशः पालन कर जैन धर्म की यश और कीर्ति का झण्डा दिगदिगन्त में फहराया और आज भी वैसे यशस्वी बालक होने संभव हैं। बहुत

प्राचीन काल मे भी कहा जाता था—"भिक्षु को हजारो गुण धारण करने पड़ते हैं, शत्रु मित्र सब के प्रति समभाव रखना और पूर्ण अहिंसा का पालन करना दुष्कर है, यावज्जीवन झूठ का त्याग दुष्कर है; बिना दी हुई कोई वस्तु लेना दुष्कर है; यावज्जीवन के लिये ब्रह्मचर्य का पालन करना दुष्कर है, सर्व प्रकार के परिग्रह का त्याग दुष्कर है, परिषह—कष्ट सहन करना दुष्कर है।" "तू सुकुमार, सुखो मे उत्पन्न और पाला हुआ है—तू लोहभार की तरह उठाने मे कठिन इन महान गुण समूह को कैसे उठा सकेगा?" साधु जीवन को लोह भार की उपमा दी जाती थी, उसे बालू की तरह निरस बताया जाता था और तलवार की धार की तरह से तीक्ष्ण। परन्तु ऐसे प्रसगो पर जो उत्तर मिलते थे वे भी ध्यान देने योग्य है। "जिसे इस लोक की पिपासा नही, उसके लिये कुछ भी दुष्कर नही"—"श्रद्धा हमारे मार्ग को सरल करेगी।" जिनके हृदय में सच्चा वैराग्य छा जाता है, जो ससार से विरक्त हो मुक्ति के अभिलाषी हो जाते है उनके लिये साधु जीवन की कोई भी बात दुष्कर नही होती। भोगी को जहाँ भय लगता है, त्यागी को वही आराम मिलता है। भोगी को जो कठिन मालूम देता है, त्यागी के लिये वही सुखावह और परम शान्ति का स्थान होता है। सयमी जीवन के लिये श्रद्धा और दृढ मनोबल की ही जरूरत पड़ती है और बालक, युवक व वृद्ध जिसमे भी यह गुण होता है, वह कठिन-से-कठिन बात को भी सरलता से पार लगा देता है। जो अनुत्तर धर्म है वह पाप निमग्न आत्माओ के लिये जरूर दुष्कर है परन्तु जो हलुकर्मी जीव होते हैं जिन्हे केवल अपने आत्मा के हित की ही चिन्ता रहती है, उनके लिये धर्म कोई दुष्कर नही होता। उनकी साधना मे सहायक होने से वह उन्हे अत्यन्त प्रिय होता है और उसके लिये वे महान-से-महान कष्टो को भी प्रसन्न चित्त से झेल सकते है।

ज्ञाता धर्म कथांग सूत्र में वास्तव मे ठीक ही कहा है :—"जिन प्रवचन क्लीव, चित्त की दृढ़ता रहित कायर पुरुषो को, कुत्सित मनुष्यो को, इस लोक सम्बन्धी विषय सुख की इच्छा करने वाले तथा परलोक के सुख की वाछा नही करने वाले सामान्य मनुष्यों को ही पालन करना दुष्कर है। परन्तु जो धीर, साहसिक और निश्चित व्यवसाय वाला पुरुष होता है उसके लिये प्रवचन पालन करना दुष्कर नहीं है।

णिग्गंथे पावयणे कीवाणं कायराणं कापुरिसाणं इहलोगपडिबद्धाणं परलोग-निप्पिवासाणं दुरणुचरे पाययजणस्स, णो चेव णं धीरस्स निच्छियववसियस्स एत्थ किं दुक्करं करणयाए॥ ज्ञा० अ० १: २३॥"

"दीक्षा और मूल आगम" शीर्षक के अन्तर उपरोक्त शास्त्रीय प्रमाणो को उद्धृत करने के बाद शास्त्रीजी "अयोग्य दीक्षा के लिये शास्त्रीय निषेध" शीर्षक उपस्थित करते है। "अयोग्य व्यक्ति को दीक्षा देना मूल सूत्रों मे निषिद्ध है" इस वाक्य से इस विषय को आरम्भ करते हुए आप लिखते है :—

"भगवती सूत्र शतक १ उद्देश्य १ मे आया है—

'असंवुडेणं भंते! अनगारे सिज्झई बुज्झइ मुञ्चइ परिनिव्वायइ सव्वदुक्खाण-मन्ते करेइ ?'

'गोयमा ! णो इणट्ठे' 'समट्ठे । से केणट्ठेण भंते जाव अंतं न करेइ !'

'गोयमा ! असंवुज्झे अणगारे आयु अवज्जाओ सत्तकम्म पयडीओ सिढ़िल बन्धन बंधाओ घणीय बंधण बंधाओ पकरेइं, रहस्सकाल ठिइआओ दीहकाल ठिइआओ पकरेइ मंदाणुभावाओ तिव्वाणुभावाओ पकरेइ, अप्प पएसगाओ बहुपएसगाओ पकरेइ।"

पण्डितजी के दिये हुए उपरोक्त अवतरण का अर्थ उन्ही के अनुसार इस प्रकार है :—

"भावार्थ :—गोतम स्वामी भगवान् महावीर से पूछते है :—

'हे भगवन्! जो साधु पाप कर्म से निवृत नहीं हुआ है, क्या वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो सकता है, निर्वाण प्राप्त कर सकता है तथा सब दु.खो का अन्त कर सकता है ?

'नही गोतम ! यह नही हो सकता'—भगवान ने उत्तर दिया।

'क्यो भगवन्! ऐसा साधु सिद्ध बुद्ध मुक्त आदि क्यो नही हो सकता'?—गौतम स्वामी ने फिर पूछा।

'हे गोतम! असवृत (असंयतेन्द्रिय) अनगार आयुकर्म को छोड कर शेष सात कर्मो की प्रकृतियाँ जो शिथिल बन्ध वाली हैं उन्हे दृढ़ बन्धवाली करता है, जो थोड़े काल की स्थिति वाली है, उन्हे लम्बे काल की स्थिति वाली करता है, जो मन्द फल देने वाली है, उन्हे तीव्र फल वाली करता है, जो अल्प प्रदेश वाली हैं उन्हे अधिक प्रदेश वाली करता है'।"

अयोग्य दीक्षा का किसी भी सूत्र मे कही भी समर्थन नही और वह हो भी कैसे सकता है? परन्तु पण्डितजी ने जो अवतरण दिया है वह अयोग्य दीक्षा के निषेध से सम्बन्धित नहीं है। उसमें 'असंवृत अणगार' शुद्ध बुद्ध हो सकता है या नहीं—इसी का प्रश्नोतर है। जो १८ पापादि से विरत नहीं है जिसने अपने कषाय, इन्द्रिय

और योगों को सवृत नहीं किया उस सवर -रहित अणगार की मुक्ति होना दुर्बल है। परन्तु जो पाप के त्याग द्वारा संवृत आत्मा है, जिसने कषाय और योगों पर विजय पा ली है, उसके लिये मुक्ति का द्वार सदा खुला है। इस पाठ के सहारे से बाल-दीक्षा -को अयोग्य दीक्षा ठहराना जरा भी युक्ति संगत नहीं। इस पाठ मे इस बात की चर्चा ही नही है कि कौन दीक्षा के लिये योग्य है और कौन अयोग्य। फिर उसे अयोग्य दीक्षा या बाल-दीक्षा के निषेध रूप मे उक्त बतलाना जरा भी न्याय-संगत नहीं. शास्त्रीजी ने किस विचित्र ढङ्ग से अपने विषय का प्रतिपादन किया है, पाठक इसका नमूना देख ले। शास्त्रीजी को जैन सूत्रों की कितनी जानकारी है, यह भी पाठको को मालूम हो गया होगा।

चौथे उदाहरण मे पण्डितजी ने निशीथ सूत्र के ग्यारहवे उद्देश मे आये हुए निम्न लिखित पाठ को उपस्थित किया है --

"जे भिक्खू णायग वा अणायगं वा उपासग वा अणुवासगं वा जे अणल पव्वावेइ पव्वावेंतं वा साइज्जइ, जे भिक्खू अणलं उट्ठवेइ, उट्ठावत वा साइज्जइ, जे भिक्खू अणलेण वेयावच्च करेइ करेंत वा साइज्जइ ते सेवमाणे आवज्जइ चउमासियं परिहारट्ठाण अणुग्घाइमं।"

इसका अर्थ पण्डितजी ने इस प्रकार किया है। "अर्थात् जो भिक्खु नायक अथवा अनायक उपासक अथवा अनुपासक किसी भी प्रकार के अयोग्य व्यक्ति को दीक्षा देता है अथवा ऐसे व्यक्ति को दीक्षा देने वाले की सहायता करता है। अयोग्य व्यक्ति को उठाता है अथवा उठाने वाले की सहायता करता है। अयोग्य व्यक्ति से अपनी सेवा कराता है अथवा सेवा करने वाले की सहायता करता है। ऐसे भिक्खु को अनुद्घातिम चातुर्मासिक प्रायश्चित आता है।"

निशीथ सूत्र के इस पाठ मे अनल—अयोग्य को दीक्षा देने के लिये प्रायश्चित बतलाया गया है परन्तु यह नहीं कहा गया कि बालक को दीक्षा देना अयोग्य दीक्षा है। युवक व वृद्ध भी तो अयोग्य हो सकते हैं वैसी हालत मे 'अनल' शब्द का प्रयोग 'बाल' द्योतक अर्थ मे ही हुआ है, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती और न इस पाठ के सहारे से बाल-दीक्षा निषिद्ध ही ठहराई जा सकती है। अवतरणों के अन्त में पण्डितजी टिप्पणी करते हुए लिखते हैं :—

"इस प्रकार शास्त्र मे अनेक स्थानों पर अयोग्य दीक्षा का निषेध किया गया है। ऊपर लिखे हुए प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है अयोग्य व्यक्ति को दीक्षा या

सन्यास देने की किसी भी धर्म मे आज्ञा नही है। ससार का कोई भी धर्म इस बात को नही सह सकता कि एक अयोग्य बालक उनका धर्मगुरु बन कर धार्मिक स्तर को नीचे गिरावे।"

पण्डितजी ने आगम साहित्य के जो चार प्रमाण दिये है, उनमे से पहला प्रौढ दीक्षा के साथ सम्बन्धित है, दूसरे मे उदात् साधु जीवन की रूप रेखा और उसके कर्त्तव्यो का सर्वाङ्गीन वर्णन है, और तीसरे मे असवृत अणगार को मोक्ष हो सकता है या नही इस बात की चर्चा है। इस तरह इन तीनो प्रमाणो मे अयोग्य दीक्षा का वर्णन ही नही आया है। बाल-दीक्षा के समर्थन विरोध की भी कोई बात नहीं है। बाल दीक्षा विवेचन पुस्तक मे हम उन अवतरणो की आशा रखते थे जो बाल दीक्षा को सीधा निषिद्ध बतलाते। परन्तु बाल-दीक्षा का निषेध तो दूर रहा पण्डितजी ने जो अवतरण दिये है उनमे एक भी अयोग्य दीक्षा का निषेध प्रतिपादक भी नहीं है। चौथे प्रमाण मे अवल अयोग्य की दीक्षा का निषेध अवश्य है परन्तु उसमें इस बात का जरा भी सकेत नही कि बालक दीक्षा के सदा अयोग्य होता है और बाल-दीक्षा सदा वर्जनीय है। इन प्रमाणो के आधार पर जो निष्कर्ष निकाला गया है वह अहेतुक है और केवल भोली जनता की आँखो मे धूल झोकने की दुस्साहसपूर्ण चेष्टा है। जैन धर्म मे बाल-दीक्षा विहित है और जहाँ उसके विपक्ष मे एक भी प्रमाण पण्डितजी को नही मिला, वहा उसके समर्थन मे सैकड़ो प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते है। खेद का विषय है कि विद्वान होने पर भी पण्डितजी ने अपने नेत्रो को बन्द कर रक्खा है और सत्य झूठ के निर्णय बिना ही मिथ्या-प्रतिपादन मे अपनी बुद्धि का विपर्यास कर रहे है।

हम ऊपर कह आये है कि बाल-दीक्षा सर्वथा शास्त्रानुमोदित है। हम अब पाठको के सामने सूत्रो के अवतरण रक्ख कर इस बात की सत्यता सिद्ध करेगे।

(१) दशवैकालिक सूत्र, जैसा कि भद्रबाहु कृत निर्युक्ति और टीकाओ से मालूम होता है एक सग्रह सूत्र है। इसकी रचना पूर्व ग्रन्थ व अङ्ग सूत्रो मे से अवश्य जानने योग्य आचार विचार की गाथाओ को सग्रह कर या उनका सार लेकर की गई है। इस सूत्र की रचना शय्यभव आचार्य ने की थी, जो भगवान महावीर के पश्चात् जिन शासन के चौथे पट्टधर हुए। ऐसी कथा प्रचलित है कि शय्यभव स्वामी ने एक दिन हठात् दीक्षा ग्रहण कर ली। उनकी पत्नी युवा थी और इससे सगे सम्बन्धी बड़े चिन्तित हुए। पति के अभाव मे स्त्री का एकमात्र सहारा पुत्र होता है इसलिये वे इस बात की जाँच करने लगे कि शय्यंभव की पत्नी के गर्भा-

धान है या नही। पूछने पर शय्यंभव की पत्नी ने उत्तर दिया—'थोडा (मणयार) है। बाद मे जब पुत्र उत्पन्न हुआ तो इसी प्रसंग को याद करते हुए शिशु का नाम मणक (मणय) रखा गया। मणक जब आठ वर्ष का हुआ तो अपनी माता से अपने पिता के सम्बन्ध मे पूछताछ करने लगा और एक दिन बिना माता को कहे ही पिता की खोज मे निकल पडा। फिरते-फिरते वह बालक चम्पा नगरी के पास पहुचा। उस समय शय्यंभव मुनि पंचमी के लिये बाहर गये हुए थे हठात् वही पर उन्होंने उस बालक को देखा और उससे पूछने लगे कि वह कौन है और कहाँ से आया है। बालक ने सारी हकीकत बता दी और अपने पिता के पास जाकर साधु बनने की इच्छा दिखाई। इसपर शय्यंभव ने उससे कहा—"अपने पिता और मुझे शरीर से एक ही जानो। तुम मेरे पास दीक्षा लो।" बालक उनके साथ हो लिया और बाद मे उन्होंने उसे दीक्षा देकर साधु बनाया।

ज्ञान दृष्टि से देखने पर शय्यंभव को दिखाई दिया कि मणक केवल छ महीने ही और जीने वाला है। इसलिये क्रमवार सूत्र शिक्षा देने के लिये पर्याप्त दीर्घ समय हाथ में नहीं है। ऐसा विचार कर उन्होंने दशवैकालिक सूत्र के १० अध्ययन पूर्व ग्रन्थों मे से रचकर इन्हे मणक को पढाना शुरू किया और उस बालक सन्त ने भी इन अध्ययनों को शुद्ध चित्त से सीख कर उनकी यथोचित रूप से आराधना की। बालक मणक के अनुग्रह के लिये लिखे गये दस अध्ययन विकाल सन्ध्या के समय रचे गये थे इसलिये उन अध्ययनों के संग्रह का नाम दशवैकालिक पडा। चरण—आचार और करण—भिक्षा विधि—बतलाने के कारण इस सूत्र को 'दशकालिक' भी कहा जाता है'।

दशवैकालिक सूत्र की रचना के उपरोक्त वृत्त से यह साफ प्रकट है कि मणक की दीक्षा बाल वय मे ही हुई थी और उसकी अवस्था दीक्षा के समय ८ वर्ष से कुछ अधिक थी। इस तरह दशवैकालिक सूत्र के रचना के इतिहास से मणक के रूप मे बाल-दीक्षा का ज्वलन्त प्रमाण मिलता है। बालक मुनि मणक की योग्यता के विषय मे नियुक्तिकार भद्रबाहु लिखते है—"आर्य मणक ने शास्त्रों के सार रूप

१—सेज्जंभव गणहर जिणपडिमादंसणेण पडिबुद्ध मणगपियर दसकालियस्स निज्जूहग वंदे ॥१४॥दार
मणग पडुच्च सेज्जंभवेण निज्जूहिया दसज्झयणा, वेयालियाए ठविया तम्हा दसकालिय नाम ॥१५॥
बिइओ वि य आएसो गणिपिडगाओ दुवालसंगाओ, एय किर निव्वूढ मणगस्स अणुग्गहट्ठाए ॥१८॥
भद्रबाहु निर्युक्ति

दशवैकालिक का ६ महीने में ही अध्ययन कर उसे अच्छी तरह सीख लिया। छः महीने का दीक्षित जीवन पूरा कर आर्य मणक समाधि पूर्वक काल प्राप्त हुआ[१]।" जो बालकों को चारित्र-भार वहन करने मे एकान्त असमर्थ समझते हैं, उनके लिये बाल सन्त मणक का उदाहरण दृष्टि उन्मेषक होगा।

(२) दशवैकालिक सूत्र जैन आगम साहित्य के 'मूल सूत्रों' मे तीसरा गिना जाता है। इस सूत्र के छट्ठे अध्याय मे जैन साधु के 'आचारगोचर' का बडा सुन्दर वर्णन किया गया है। साधु के आराधन करने योग्य अठारह गुणो का वर्णन करने के पूर्व प्रस्ताविक रूप से निम्न गाथा मिलती है -

"सखुड्डगवियत्ताण वाहियाणं च जे गुणा।
अखडफुडिया कायव्वा तं सुणेह जहा तहा ॥६॥

इसका अर्थ है—"छोटे-बडे, रोगी इस तरह सर्व निग्रन्थों को जो गुण अखण्डित रूप से पालन करने पडते हैं, वे इस प्रकार है।"

अगर बाल-दीक्षा शास्त्रानुमोदित नही होती तो इस गाथा मे 'सखुड्डग' शब्द का प्रयोग नही होता, जिसका अर्थ टीकाकार ने 'द्रव्य और भाव बाल' किया है। 'द्रव्य और भाव बाल' का अर्थ होता है 'जो दीक्षा पर्याय से भी बालक हो और वय हिसाब से भी बालक हो।' हम यहाँ हरिभद्र सूरि की टीका का वह अंश उद्धृत करते है जो इस गाथा के भाव का स्फोटन करता है .—

'सखुड्डगत्ति सूत्र, सह क्षुल्लकै.—द्रव्यभावबालैर्ये वर्त्तन्ते ते' व्यक्ता—द्रव्यभाव वृद्धास्तेषा सक्षुल्लक व्यक्ताना, सबालवृद्धानामित्यर्थ, व्याधिमता च शब्दाद्-व्याधिमतां च सरुजाना नीरुजानां चेति भाव·, ये 'गुणा'—वक्ष्यमाणलक्षणास्तेऽखण्डा स्फुटिता· कर्त्तव्याः अखण्डा देशविराधनापरित्यागेन अस्फुटिता सर्व विराधनापरित्यागेन, तत् शृणुत यथा कर्त्तव्यास्तथेत्ति सूत्रार्थ.।

इस गाथा की श्री समय सुन्दर गणि ने भी ऐसी ही व्याख्या की है। अत यह सिद्ध है कि बाल-दीक्षा शास्त्र संगत है। अगर बाल दीक्षा निषिद्ध होती तो बाल संतो पर भी इन नियमों के लागू होने का उल्लेख नही आता।

मूल सूत्र अर्थात् जिसमें भगवान महावीर के श्री मुख से फरमाये हुए वचन हों। पूर्वों पर से सार रूप संग्रह किया हुआ होने से दशवैकालिक सूत्र के लिये मूल संज्ञा बिलकुल उपयुक्त बैठती है। ऐसे मूल सूत्र मे आई हुई यह गाथा बाल-

१—छहि मासेहि अहीय अज्झयणमिण तु अज्जमणगेण। छम्मासा परियाओ अह कालगओ समाहीए ॥३७०॥

दीक्षा के विषय पर अत्यन्त प्रामाणिक है। शय्यभव भगवान महावीर के निर्वाण के कोई ९८ वर्ष बाद देवलोक हुए—ऐसा अनुमान है। ऐसी हालत मे 'बाल-दीक्षा' भगवान के निर्वाणके बाद के १०० वर्षो मे प्रचलित थी—ऐसा सिद्ध होता है।

(३) उत्तराध्ययन सूत्र जैन आगम साहित्य का प्रथम मूल सूत्र है। इसके १४ वे ईषुकार नामक अध्ययन मे भृगु नामक पुरोहित के दो पुत्र, भृगु और उसकी भार्या यशा तथा ईषुकार नगरी के राजा ईषुकार और उनकी रानी कमलावती के प्रव्रजित होने का वर्णन आया है। भृगु पुरोहित के दोनो पुत्रो को 'कुमार' शब्द से सम्बोधित किया गया है। ये दोनो पुरोहित पुत्र अविवाहित अवस्था मे ही नही परन्तु बालक वय मे ही दीक्षित हुए थे, यह सब जैनी जानते है। टीका मे इनकी कथा को विस्तार से देते हुए कहा कि पूर्व भव मे देव रूप उत्पन्न हुए इन दोनो भाइयो ने निर्ग्रन्थ साधु का रूप धारण पहले ही आकर अपने भावी पिता से कह दिया था कि भविष्य मे उत्पन्न होने वाले उसके दोनो पुत्र बाल अवस्था मे ही दीक्षित होगे[1]।

(४) उत्तराध्ययन सूत्र के १५ वे अध्ययन की १२ वी गाथा भी बाल-दीक्षा को सिद्ध करती है। यह गाथा इस प्रकार है :-

"ज किंचि आहारपाणगं विविह, खाइमसाइम परेसि लद्धु।
जो त तिविहेण नाणुकंपे, मणवयकायसुसंवुडे स भिक्खू॥

इस गाथा मे प्रयुक्त 'नाणुकंपे' शब्द के अर्थ की पूर्ति टीकाकार इस प्रकार करते है[2] 'नानुकम्पते कोऽर्थः ग्लानबालादीन्नोप कुरुते' न स भिक्षुरिति वाक्य शेष.।'

इस गाथा का अर्थ इस प्रकार है —"यत्किञ्चित् आहार, पानी तथा नाना प्रकार के खादिम, स्वादिम पदार्थ गृहस्थो से प्राप्त कर जो उस आहार से त्रिविध योग द्वारा, सभोगी बाल, वृद्ध और ग्लानादि पर अनुकम्पा नही करता, वह भिक्षु नहीं किन्तु जिसने मन, वचन और काया को भलीभाँति सवृत किया है, वही भिक्षु है।"

१ — देखिये भावविजय गणि तथा वादिवताल श्री शान्ति सूरि कृत टीका यथा —
तावूचतु. सुतौ द्वौते, भाविनौ तौ च मन्मती, शिशुत्व एव प्रव्रज्या, विश्वप्रजा प्रहीप्यत ॥१८॥
भाव देवीया टीका।

२—देखिये :—श्री उपाध्याय आत्मारामजी महाराज कृत अनुवाद पृ० ६५५, श्री वादिवेताल श्री शान्ति सूरि कृत टीका तथा श्री भाव विजय गणि कृत टीका।

यदि जैन सङ्घ मे बाल-दीक्षा विद्यमान न होती तो बाल सन्तों के प्रति अनु-कम्पा करने की बात ही टीकाकार नही उठाते।

(५) उत्तराध्ययन सूत्र के १७ अध्ययन की ११ वी गाथा की टीका मे भी 'बाल' शब्द का प्रयोग है और इससे भी बाल-दीक्षा की परिपाटी प्राचीन होने का प्रमाण मिलता है। यह गाथा इस प्रकार है :

बहुमाई पमुहरी, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अवियत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई॥

'असंविभागी' शब्द का खुलासा करते हुए टीकाकार लिखते हैं :— गुरु ग्लान-बालादिभ्य उचितमशनादि यच्छतीत्येवंशील: संविभागी न तथा य आत्मपोष-कत्वेनैव सोऽसंविभागी।' इस गाथा का सम्पूर्ण अर्थ इस प्रकार है —

'छल करने वाला, अहंकारी, लोभी इन्द्रियों को वश मे न रखने वाला और लाये हुए आहार का बाल्य वृद्ध ग्लान आदि के साथ संविभाग न करने वाला तथा उनके प्रति प्रेम भाव न रखने वाला पाप श्रमण कहा जाता है।'

(६) उत्तराध्ययन सूत्र के केशी गौतमीय नामक तेवीसवे अध्ययन मे भगवान पार्श्वनाथ के सतानीय शिष्य केशी श्रमण और गणधर गौतम का सवाद आया है। केशी श्रमण के सम्बन्ध मे 'लोक प्रदीप', 'भगवान् पार्श्वनाथ के महा यशस्वी शिष्य' तथा 'विद्या और चारित्र मे परिपूर्ण' शब्द प्रयुक्त किये गये है। ये केशी श्रमण आबाल ब्रह्मचारी थे और उनकी दीक्षा अल्प वय मे—बाल अवस्था मे ही हुई थी। 'राय पसेणइय सूत्र' के प्रमुख पात्र और परदेशी राजा को प्रबोध देने वाले श्रमण केशी यही केशी कुमार थे[१]।

(७) अन्तकृद्दशाः सूत्र के छट्टे वर्ग मे अतिमुक्तक की कथा वर्णित है। ये भगवान महावीर के समय के साधु थे और भगवान के उपदेश से वैरागी हो बाल वय मे ही उनके पास दीक्षित हो गये थे इसी से उन्हे 'कुमार श्रमण' कहा है। ये उसी भव मे मुक्तिगामी हुए। भगवान ने इनकी बड़ी प्रशंसा की थी और बड़े सन्तों को उनकी अवहेलना तिरस्कार और अपमान न कर उन्हे सहायता देने और उनकी सेवा करने का आदेश दिया था। (देखो भगवती सूत्र श० ५ उद्दे० ४)।

(८) उपरोक्त अतिमुक्तक बाल सन्त के सिवा एक इसी नाम के अन्य बाल-सन्त भी प्रसिद्ध है। कृष्ण वासुदेव और गजसुकुमार की माता रानी देवकी को इन्हीं

१—देखिये—उत्तराध्ययन सूत्रम् (उपाध्याय आत्मारामजी महाराज कृत अनुवाद, पृ० ९९; राय पसेणइये सूत्र प० बेचरदासजी कृत अनुवाद टि० १२८ पृ० २११

दूसरे अतिमुक्तक मुनि ने यह कहा था कि उसके एक ही समान वर्ण और आकृति के नल कुबेर जैसे आठ पुत्र होंगे जैसे समूचे भरत खण्ड मे किसी भी स्त्री को नही होंगे।" इन अतिमुक्तक मुनि को उक्त सूत्र मे 'कुमारश्रमण' कहा गया है। इन्हों ने भी बाल अवस्था मे ही दीक्षा ले ली थी।

(९) प्रश्न व्याकरण सूत्र मे भी बाल-दीक्षा के समर्थन मे महत्त्वपूर्ण पाठ मिलता है। संवर द्वार के तीसरे अध्ययन मे निम्न लिखित गाथा मिलती है -

"अहकेरिसए पुणाइ आराहए वयमिणं जे से उवहि भत्तपाण संगहण दाण-कुसले अच्चत बाल दुब्बल गिलाण वुड्ढमासखमण पवत्ति × × × निज्जरट्ठी वेयावच्च अणिस्सिय दसविहं बहुविहं करेति।"

इसका अर्थ होता है :

"अदत्त नामक तीसरे व्रत का आराधक कौन है ? जो उपधि भक्त पान आदि को विधि पूर्वक संग्रह करने मे कुशल है और जो अत्यन्त बाल, दुर्बल, ग्लान, वृद्ध, मास क्षमण की तपस्या वाले तथा तप संयम आदि योगो मे प्रवृतमान है × × × उनकी निर्जरा के हेतु से अनेक प्रकार से दसधा वैयावच्च करने वाला है वह इस व्रत का आराधक होता है।'

जो बालक-साधु की वैयावच्च करने वाला है वह तीसरे संवर का आराधक कहा गया है। अगर बाल-दीक्षा वर्ज्य होती तो सूत्र के मूल पाठ मे बाल-वैयावच्च का शब्द कैसे आता ?

विज्ञ पाठक विचार कर देखें कि इससे बाल-दीक्षा सिद्ध होती है या नहीं ?

(१०) उत्तरार्द्ध सूत्र 'सिद्धाधिकार सूत्र ४३ मे यह प्रश्नोत्तर चला है कि जीव कितनी आयु मे सिद्ध हो सकता है। हम उस प्रश्नोत्तर को भावार्थ सहित यहाँ देते है :

"जीवाण भंते ! सिज्झमाणा कयरम्मि आउए सिज्झन्ति ?

गोयमा ! जहण्णेण साइरेगट्ठवासाउए उक्कोसेण पुव्व कोडियाउए सिज्झन्ति।"

उपरोक्त पाठ का टीकानुसार अर्थ यह होता है

'जीव हे भगवन् ! 'कितनी आयु मे सिद्ध होता है ?'

'हे गौतम ! जघन्य कम-से-कम ८ वर्ष से उपरान्त आयु मे और अधिक से अधिक एक क्रोड वर्ष की उम्र मे जीव सिद्ध होता है।'

उपरोक्त पाठ मे मोक्ष के लिये कम-से-कम ऊमर आठ वर्ष से उपरान्त बतलाई गई है। साधु हुए बिना मोक्ष नही मिलता। अतः उपरोक्त पाठ से ८ वर्ष उपरान्त

दीक्षाकाल मान सकते हैं। मोक्ष प्राप्त होने के पहले केवल ज्ञान का होना भी जरूरी है और कुछ काल इसकी प्राप्ति में भी लगता है। मोक्ष प्राप्ति में लगने वाले ८ वर्ष के उपरान्त काल को घटा देने पर दीक्षा काल ८ वर्ष की आयु ठहरता है। इस बात की पुष्टि टीका पर से भी होती है। हम यहाँ अभय देव सूरि कृत टीका का अवतरण देते है।

'साइरेगट्ठवासाउए' त्ति —सातिरेकाण्यष्टौ वर्षाणि यत्र तत्तथा तद्यतदायुश्चेति तत्र सातिरेकाष्टवर्षायुषि, तत्र किलाष्टवर्ष वयाश्चरण प्रतिपद्यते, ततो वर्ष अतिगते केवलज्ञानमुत्पाद्य सिध्यतीति। उक्कोसेण पुव्वकोडाउए त्ति पूर्वकोट्यायुर्नरः पूर्वकोट्या अन्ते सिध्यतीति न परत.।

टीकाकार कहते है— "आठ वर्ष की आयु चरण साधुत्व के लिये प्रतिपादित है। ८ वर्ष बीतने पर केवल ज्ञान प्रकट कर जीव सिद्ध होता है।"

उपरोक्त पाठ भी बाल दीक्षा को असंदिग्ध रूप से सिद्ध करता है।

(११) व्यवहार सूत्र उ० १० गा० १६।२० में निम्नलिखित पाठ मिलता है. -

"नोकप्पइ निग्गथाण वा निग्गंर्थीणं वा खुड्डगस्स वा खुड्डियाए वा उणट्ठवास जायं उवट्ठावित्तएवा सभुंजितएवा।"

"कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा खुड्डगस्स वा खुड्डियाएवा साइरेग अट्ठ-वास जाय उवट्ठावित्त एवा संभुजित एवा।"

इसका भावार्थ यह है .—

"नही कल्पता है निर्ग्रन्थ साधु और साध्वी को ८ वर्ष से कम उम्र वाले लडके व लड़की को दीक्षा देना व उसके साथ भोजन करना।"

"कल्पता है निर्ग्रन्थ साधु व साध्वी को आठ वर्ष से अधिक वर्ष के बालक व बालिका के दीक्षा देना व उसके साथ भोजन करना।"

इस पाठ में दीक्षा की आयु आठ वर्ष से ऊपर बतलाई गई है। ८ वर्ष से ऊपर के बालक को दीक्षा देना साधु साध्वी को कल्पता है। इसी तरह बाल-दीक्षा के अनेक प्रमाण आगम साहित्य मे बिखरे पड़े है। सरसरी तौर पर बाल-दीक्षा विषयक जो पाठ हमारी निगाह मे आये, उन्हें हमने ऊपर संग्रहीत किया है। वैसे जितने प्रमाण दिये हैं उतने प्रमाण बाल-दीक्षा को सिद्ध करने में पर्याप्त होने चाहिएँ। हमारी धारणा है कि प्रयत्न करने पर और भी उद्धरण दिये जा सकते हैं। जो यह कहते हैं कि बालक बालिकाओं के लिये साधु जीवन का भार उठाना कठिन ही नहीं असंभव है, उनको शास्त्रीय वचनों पर विचार करने की जरूरत है।

अगर साधु-आचारविचार का सम्यक् पालन बाल सन्त व साध्वियों द्वारा अशक्य होता, तो जिन शासन मे उन्हे दीक्षा देने की आज्ञा ही नही होती। बाल-दीक्षा के विषय मे शका करना अनादि जैन धर्म की छत्रछाया मे हुए महान बाल सन्त व साध्वियो के जीवन पर कलङ्क लगाना है। अगर बालको द्वारा जैनाचार का पालन असंभव है तब तो आज तक हुए बाल सन्तो ने केवल वेष ही पहना और उनका साधु जीवन केवल ढोग ही रहा ! क्या कोई भी स्वाभिमानी जैन इस बात को सहन करेगा या अपने पर आरोपित होने देगा ?

बालक साधुओ ने जैन आचार-विचार को किस तरह भलीभाँति अपनाया और और मरणान्तक कष्ट आ पडने पर भी किस तरह अडिग रहे इसके ज्वलन्त उदाहरण जैन कथा साहित्य मे मिलते है। हम यहाँ केवल दो कथाओ का सक्षेप मे भावार्थ उपस्थित करते है। दोनो कथाए उत्तराध्ययन सूत्र की श्रीमद् भाव विजय टीका पर से ली गई है और पृ० २६ तथा २८ पर उपलब्ध है। पहली कथा इस प्रकार है

"भारतवर्ष मे उज्जयिनी नामक स्वर्ग के सदृश एक पुरी था। वहा हस्तिमित्र नामक एक श्रेष्ठी था। उसकी स्त्री बहुत सेवाशील, दक्ष और पतिव्रता थी। उसकी हठात मृत्यु हो गई। अपने प्राणो से भी प्रिय वल्लभा के वियोग से हस्तिमित्र का चित्त ससार की असारता का विचार कर वैराग्यवान हो गया और उसने हस्तिभूति मुनि के पास दीक्षा ले ली। हस्तिमित्र का पुत्र भी उसके साथ दीक्षित हुआ। एकदा अन्य साधुओ के साथ हस्तिमित्र और उनके पुत्र मुनि ने भी उज्जयिनी से विहार किया। रास्ते मे हस्तिमित्र मुनि के पैर मे काँटा गड गया जिससे आगे चलने मे वे असमर्थ हो गये और उनके प्राण सकट मे पड गये। परन्तु उन्होने इस बात को अन्य साधुओ से प्रगट न की और दूसरे साधुओ से बोले "आपलोग शीघ्र ही इस कान्तार- जङ्गल को पार करो। मै तो अब असमर्थ हू यही अनशन करूगा।" यह सुन कर अन्य मुनि कहने लगे- "हमलोग आपको इस अटवी मे नही छोड सकते। कधा झोली कर ले जायगे। जिन भगवान ने वैयावृत्य को धर्म कृत्यो का सार बतलाया है ग्लान साधु की सेवा का मौका बिना पुण्य नही मिलता।" यह सुन कर हस्तिमित्र बोले "मेरी मृत्यु सन्निकट है। मुझे उठा कर ले जाने की जरूरत नही। एक के लिये सब को कष्ट मे पडने की भी जरूरत नही। आपलोग शीघ्र जङ्गल को पार कर निरापद स्थान को पहुचे।" ऐसा कह उन्होंने सर्व मुनियो को वहाँ से भेज दिया और

वृद्ध ने अनशन ग्रहण किया। हस्तिमित्र का दीक्षित पुत्र भी साधुओं के साथ चला, कुछ दूर जाने पर वह बालक मुनि अन्य साधुओं को छोड़ कर अपने पिता साधु के पास आगया। यह देख कर हस्तिमित्र ने उलहना देते हुए कहा—'तुमने यह काम शोभा का नहीं किया। तुम बिना विचारे मुनियों का संग छोड़ मेरे पास आये हो। यहाँ प्रासुक अन्नादि का देने वाला कोई नहीं। क्षुधा और तृषा से तुमको बहुत तकलीफे उठाना पड़ेगी।' पुत्रने कहा 'जो होने का है वही होगा। मै आपको इस अवस्था मे अकेला छोड़ कर नहीं जा सकता।' हस्तिमित्र उसी दिन अत्यन्त वेदना के कारण स्वर्ग सिधारे और देवता होकर उस बालक सन्त और अपनी शव को उसी जङ्गल मे देखा। देवता ने अपने पर्व शव मे प्रविष्ट कर बालक को कहा "भिक्षा के लिये तुम वृक्षों की खोहों के पास जाओ। उनमे बसने वाले लोग तुम्हे भिक्षा देगे।' बालक सन्त वृक्षों की खोहों के पास जाता और भिक्षा याचना करता। खोह से हाथ निकलते और भक्ति भाव से उस बाल साधु को प्रासुक अशन आदि देते। इस तरह अनेक दिन बीत गये। एकबार साधुओं का एक संघ उसी मार्ग से विहार के लिये चला। उस जङ्गल मे पहुचने पर साधुओं ने उस क्षुल्लक—बालक साधु को देखा। देख कर कुतूहल से उससे पूछा 'तुम कहाँ रहते हो'? 'क्या खाते हो'?" बालक ने कहा मै इस गुहा के अन्दर अपने पिता के समीप रहता हू और वृक्षसे बाहर निकले हुए हाथों से अशनादि ग्रहण करता हू।" तब उन्होंने सोचा कि इसके वृद्ध पिता बिना आहार के किस तरह जीते होंगे? और यह सोच कर उन्हे देखने के लिये गये परन्तु वहाँ केवल सूखा कलेवर देखा। मुनि लोगों को समझते देर न लगी कि हस्तिमित्र देवता होकर अन्नादि के दान द्वारा उस बालक मुनि की रक्षा करता है। यह वृत्तान्त जान कर किसी मुनि ने कहा- "बालक ने क्षुधा परिषह सहन नहीं किया। पहाड़ के समान धैर्य धारण करने वाले वृद्ध ने ही उसे सहन किया। परन्तु अन्य साधु ने कहा - "लड़के साधु ने भी क्षुधा परिषह सहन किया है क्योंकि प्रासुक कम मिलने पर भी इसने फलादि खाने की जरा भी इच्छा न की।'

दूसरी कथा इस प्रकार है

"उज्जयिनी पुरी मे धनमित्र नामक एक वणिक था। उसके धनशर्मा नामक पुत्र हुआ। धर्म सुन कर पिता-पुत्र दोनों ने प्रव्रज्या ग्रहण की। एकदा मुनि संघ ने मध्याह्न मे विहार किया। भीषण गर्मी पड़ती थी। बालक सन्त को बड़ी तीव्र प्यास लगी जिससे उससे धीरे-धीरे चला जाता था। अन्य मुनि आगे

बढ़ गये, परन्तु मोहग्रस्त धनमित्र अपने पुत्र के साथ धीरे धीरे चला। रास्ते मे नदी आई। नदी देख कर धनमित्र मुनि बोला "हे वत्स! तुम्हारी चेष्टा से मुझे मालूम होता है कि पिपासा ने तुम्हे पराजित कर लिया है। प्रासुक जल मिलना मुश्किल है। इसलिये नदी का जल पी कर अपनी प्यास बुझाओ क्योंकि निषिद्ध कार्य भी विपद के समय किया जा सकता है। पीछे पाप की आलोचना कर शुद्ध होना।" परन्तु उस लडके ने जल की ओर आँख उठा कर भी नही देखा। पिता ने सोचा कि यह लडका मेरी शर्म करता है अत मेरे सामने जल नही पीता। मै इससे दूर चला जाऊ तो शायद यह जल पी लेवे। ऐसा विचार कर पिता धीरे धीरे कुछ आगे बढ गया। परन्तु बालक ने तृषातुर होते हुए भी जल का स्पर्श तक नहीं किया। परन्तु तृषा बढती ही जाती थी और तालु सूख रहा था। आखिर मे बालक साधु ने सोचा मै बिना दिए हुए इस जल को पीऊँ बाद मे सद्गुरुसे प्रायश्चित ले शुद्ध बनूगा।" यह विचार कर उसने अजलिमे जल लिया और ज्यों ही उसे मुख के सामने लाया, उसके मन मे विचार उठा "जिन भगवान ने जल के एक बिन्दु मे असंख्यात जीव बतलाये है मै जैन सिद्धान्त को जानता हू कैसे इन जीवों को पीऊगा? जल मे त्रस और स्थावर दोनो ही जीव होते है। ऐसा जल पान करने वाला इन सब जीवों का घातक होता है। सम्पूर्ण अहिंसा व्रत का व्रती और सब जीवो को आत्मा के समान मानने वाला पर जीवो का प्राण किस तरह ले सकता है? यह जल सजीव है।" यह विचार कर उसने अञ्जलि का जल नदी मे छोड दिया। उसके बाद बालक होते हुए भी अबाल की तरह धैर्यवान होकर शान्तिपूर्वक नदी को पार कर दूसरे किनारे पर पहुचा। वहाँ पहुचने पर तृष्णा से आगे चलने मे असमर्थ हो वही तीर पर गिर पडा। पिपासा से विवश होने पर भी उसने धैर्यपूर्वक मन को धर्म मे स्थिर किया और फिर पाँचो नमस्कारो का स्मरण करता हुआ देवलोक को प्राप्त हुआ। फिर अवधिज्ञान से पूर्व भव को जान कर अपने छोडे हुए देह मे आकर प्रविष्ट हुआ। अपने पुत्र को आगे आते हुए मुनियो के बराबर पहुचते देख कर धनमित्र मुनि बडे प्रसन्न हुए। आगे जाकर इस देवता ने गोकुल रचा। वहाँ मुनियो ने दूध याच कर स्वस्थता प्राप्त की। बाद मे साधुओ का संघ आगे बढा। उनमे से एक अपनी विण्टिका पीछे भूल आया और याद पडने पर उसे लाने के लिए गोकुल स्थान को वापिस गया परन्तु वहाँ कुछ भी दिखाई न दिया। यह सुन कर अन्य मुनियो को भी आश्चर्य हुआ। एकबार

वह देवता फिर प्रगट हुआ और पूर्व पिता के सिवा सब साधुओ की विधि-पूर्वक वंदना की। इसपर साधुओं ने पूछा—"इस व्रतधारी साधु को नमस्कार क्यों नही करते ?" तब उस देवता ने जवाब दिया- "इसने मुझे पूर्वभव में सजीव जल पीने की बुद्धि दी थी। इसलिये वह साधु नही। इसीसे उसकी वदना नही करता। इसने स्नेह वश रिपु का कार्य किया। जिस बात से दुर्गति होती है, उसका उपदेश दिया। सचित जल की ओर आँख उठा कर भी नहीं देखने की इच्छा होने पर भी इसके कहने से व्रत भंग के पाप से मुझे भव-भ्रमण करना पड़ा। गुरु हो या जनक वही बुधजनो द्वारा पूज्य होता है, जो शिष्य व पुत्र को कुमार्ग की ओर प्रेरित नही करता। इसके बाद धनशर्मा पूर्व देह को त्याग चला गया और साधुओं ने भी सुख पूर्वक वहां से विहार किया। बालक होने पर भी दृढ प्रतिज्ञ धन शर्मा ने जिस तरह तृषा परिषह सहन किया उसी तरह महानन्द पद मे अनुरक्ति रखते हुए सर्व सयतो को सहन करना चाहिये।"

पहली कथा मे बालक को वृद्ध की तरह ही परिषह—सहन करने मे क्षम्य बतलाया है, और इस मिथ्या धारणा को दूर किया गया है कि बालक वृद्ध की तरह परिषह सहन नही कर सकता। दूसरी कथा और भी अधिक बोध प्रद है। वृद्ध सचित्त जल पीने का आदेश कर अपने महाव्रत को खो देता है और अपनी दुर्-मति से बालक को भी पतनोन्मुख होने का आदेश देता है। परन्तु बालक गिरते २ सभल जाता है और फिर देवरूप मे आकर आचारहीन साधुओं के प्रति किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये इसका आदर्श पाठ सिखाता है। जो धर्म के मार्ग से विमुख करता है वह गुरु हो या पिता—उसे शत्रु के समान बतलाता है। बालक का उपयोग कितना तीक्ष्ण रहा और वृद्ध की अपेक्षा वह कितना बुद्धिवान और विचारशील रहा—इसका दृष्टान्त इस कथा मे है। बाल-दीक्षा शास्त्र सम्मत है और वह बहुत प्राचीन काल से जिन शासन मे प्रचलित है। जैन इतिहास के अवलोकन से कितने ही बाल सन्त व सतियों का पता चलेगा। बालक सन्तों ने जैन धर्म की धुरा बडी मजबूती के साथ वहन की है। जो यह कहते हैं कि छोटे बालक साधु बनने की आवश्यक बातों को क्या समझेंगे, ऐसी बाते उनमें आना कठिन ही नही असंभव है; वे प्राय: बालको के आगे 'आजकल के' विशेषण जोड़ देते हैं। पण्डितजी भी ऐसा ही कहते हैं। प्राचीनकाल में बाल-दीक्षा के ज्वलंत प्रमाण मिलते हैं इसलिये 'आजकल' शब्द जोड़े बिना शायद कोई संबल नहीं

रहता। अपनी बात के लिये कुछ न कुछ आधार चाहिये ही, और वह 'आज कल' है क्योंकि अतीत मे कोई समर्थन नही मिलता।

बाल-दीक्षा जैन धर्म मे मान्य है, यह अन्य तरह से भी प्रतिपादित होता है। जैन धर्म और वैदिक धम मे एक महान अन्तर है। जैन धर्म आश्रम व्यवस्था को स्वीकार नही करता, जब कि वैदिक धर्म मे सामान्य रूप मे आश्रम व्यवस्था को स्वीकार किया गया है। ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और सन्यास आश्रम इस तरह जीवन काल के चार भेद वैदिक धर्म ने प्रतिष्ठित हैं। इन आश्रमों मे पहले आश्रम मे ब्रह्मचर्य का पालन कर विद्याध्ययन करना पडता है, दूसरे मे विवाह कर पुत्रोत्पन्न कर गृहस्थ जीवन बिताना पडता है तीसरे मे घर गृहस्थी को छोड वानप्रस्थ अवस्था धारण करनी पड़ती है और चौथे मे सवस्व त्यागी– सन्यासी होने का विधान है। जीवन का यही क्रम साधारण रूप से विहित है यद्यपि विशिष्ट आत्माओ द्वारा इन नियमो के उल्लघन के उदाहरण भी काफी मिलते है। यह जीवन क्रम अस्वभाविक है, क्योकि धर्म की साधना के प्रधान जीवन सन्यास को क्रम मे सब से पीछे रक्खा गया है। जीवन, कमल के पत्ते पर पड़े हुए ओस बिन्दु की तरह, अस्थिर है। ऐसी हालत मे सन्यास का नम्बर शेष मे रखना मनुष्य जीवन की वास्तविक स्थिति--'आवीचि मरण' को भूलना है। जैन धर्म ने इसी दृष्टि से इस आश्रम भेद व जीवन व्यवस्था को कभी स्वीकार नही किया और धर्म मे शीघ्रता नही होती इसी बात को अग्रसर रक्खा है। विचार धाराओ के पार्थक्य को हम उदाहरण से स्पष्ट करेंगे। हम भृगु पुरोहित के पुत्रो के दीक्षा लेने के प्रसग को लेते है। जन्म, जरा और मृत्यु के भय से व्याकुल होकर और मोक्ष प्राप्ति मे चित्त को स्थिर कर ससार चक्र से विमुक्त होने की उत्सुकता से काम भोगो को छोड कर भृगु पुरोहित के दो पुत्रो ने दीक्षा लेने का विचार प्रकट किया और अपने पिता से आकर बोले :-

"यह विहार—मनुष्य शरीर अशाश्वत है। विघ्न बहुत हैं। आयु भी दीर्घ नही इसलिये हमे घर मे रति—आनन्द नही मिलता। आप आज्ञा दे। हम मौन—मुनि वृत्ति धारण करेंगे।"

यह सुन कर भृगु पुरोहित बोला :—

"इमं वयं वेयविओ वयन्ति, जहा न होइ असुयाणलोगो।"

वेदवित् कहते हैं कि पुत्र रहितों को लोक व परलोक की प्राप्ति नहीं होती।

अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे पुत्ते परिट्ठप्प गिहंसि जाया।
भोचाण भोए सह इत्थियाहिं, आरण्णगा होइ मुणी पसत्था॥

हे पुत्रो! तुम वेदों को पढ कर ब्राह्मणों को भोजन करा कर, स्त्रियों के साथ भोगों को भोग कर और पुत्रों को घर मे स्थापन करके फिर अरण्यवासी प्रशस्त मुनि बन जाना।'

पाठक देखेंगे कि उपरोक्त गाथाओं मे चार आश्रमों का ही वर्णन है। ब्रह्मचर्याश्रम मे वेदाध्ययन के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के मगल रूप मे स्नातकों को भोजन करा और फिर प्रजोत्पत्ति कर अरण्यवासी हो प्रशस्त मुनि बनने की जो बात भृगु पुरोहित कहता है, वह वैदिक सस्कृति के आश्रम भेद का ही उल्लेख है। वैदिक सस्कृति मे पले हुए पुरोहित पुत्रों को दीक्षा लेने से पराङ्मुख करने मे वेदों मे बताये हुए जीवन-क्रम को सम्मुख रखना ही सब से कार्यकारी हो सकता था और पुरोहित भृगु ने वैसा ही किया परन्तु जैन मुनि को देख कर पूर्व संस्कार से जागृत हुए बालक इस क्रम को तथ्यहीन बतलाते हैं

वेया अहीया न हवन्ति ताणं, भुत्ता दिया निन्ति तमं तमेणं।
जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं को णाम ते अणुमन्नेज्ज एयं॥१२॥

हे पिताजी! वेदाध्ययन रक्षा नही करता, भोजन कराये हुए द्विज भी तमतमा मे ले जाते हैं, और न उत्पन्न हुए पुत्र ही रक्षक होते हैं फिर आप की बात को कौन माने?

गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट होने के पहले ब्राह्मणों—स्नातकों को भोजन कराये जाने की प्रथा थी। भृगु पुत्रों ने अपात्र ब्राह्मणों को भोजन कराने मे पाप बतलाते हुए गृहस्थाश्रम का खण्डन किया है और मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रथम गृहस्थाश्रमी होने की बात को मानने से अस्वीकार किया है। इस आश्रम व्यवस्था को ब्राह्मण पुत्रों ने क्यों नहीं स्वीकार किया इसका वर्णन आगे आता है।

अब्भाहयम्मि लोगम्मि, सव्वओ परिवारिए।
अमोहाहिं पडन्तीहिं, गिहंसि न रइं लभे॥

अमोघ शस्त्रधारा के पडने से सब दिशाओं में पीडित हुए इस लोक मे अब हम घर मे रह कर आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकते।

मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो, जराए परिवारिओ।
अमोहा रयणी वुत्ता, एवं ताय! विजाणह॥

हे पिताजी! यह लोक मृत्यु से पीडित हो रहा है। जरा से घिरा हुआ है।

रात-दिन, अमोघ शस्त्र धार की तरह, बह रहे हैं। ऐसा ही लोक का स्वरूप समझे।

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ॥

जो रात्री जाती है वह वापिस लौट कर नहीं आती। अधर्म करने वाले की रात्रियाँ निष्फल जाती है।

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स सफला जन्ति राइओ॥

जो रात चली जाती है वह वापिस नहीं आती। जो धर्म का आचरण करते हैं उनकी रात्रियां सफल होती हैं।

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं जस्स वऽत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि सो हु कंखे सुए सिया॥

जिसकी मृत्यु के साथ मित्रता है जो उससे भाग कर बच सकता है जो यह जानता है कि मैं नहीं मरूंगा वही पुरुष कल की आशा कर सकता है।

अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो।
अणागयं नेव य अत्थि किंचि, सद्धाखमं णे विणइत्तु रागं॥

हम आज ही धर्म को ग्रहण करेंगे, जिस धर्म के ग्रहण से फिर संसार में जन्म नहीं होता। ऐसा किञ्चिन्मात्र भी पदार्थ इस संसार में नहीं, जो कि इस जीव को न मिल चुका हो। श्रद्धा रखना और विषय-राग को दूर करना ही योग्य है।

ब्राह्मण कुमारों ने जो उत्तर दिया और अविलम्ब दीक्षा लेने की अभिलाषा प्रकट की कहना न होगा, यह जैन धर्म की विचार पद्धति है। जहाँ पल का भी भरोसा नहीं वहाँ वर्षों का भरोसा करना निरी मूर्खता है। 'यह करूंगा' 'वह करूंगा' ऐसा करते करते ही काल मनुष्य जीवन को हर लेता है वैसी हालत में एक समय का भी प्रमाद करना भयङ्कर भूल है। जैन धर्म की यह विचारधारा, उस धारा से भिन्न है जो आश्रम रूप में जीवन के चार भाग करती है और जिसे हम ऊपर वैदिक विचार परम्परा कह आये हैं और जिसका स्वरूप भृगु ने अपने पुत्रों के सामने रक्खा।

भगवान महावीर के जमाने में आश्रम व्यवस्था विषयक उपरोक्त वैदिक परम्परा, खूब जोर पकड़े हुए थी। भगवान महावीर ने इस परम्परा के विरुद्ध घोर आन्दो-

लन उठाया और प्राचीन जैन विचार परम्परा को फिर से एक नया वेग और बल दिया।

भ्रम मे भूली हुई दुनिया को आपने उपदेश दिया :—"जैसे वृक्ष के पके पत्ते समय आने पर पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं, उसी तरह मनुष्य जीवन भी आयु शेष होने पर अकस्मात् नष्ट हो जाता है। इसलिये हे जीव! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

जैसे कुशाग्र पर लटके हुए ओस बिन्दु की स्थिति अत्यन्त स्वल्प होती है, वैसे ही मनुष्य जीवन की भी। इसलिये हे जीव! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

निश्चय ही मनुष्य भव बहुत दुर्लभ है और यह जीवों को बहुत दीर्घ काल के बाद हाथ लगता है। कर्मो के फल बड़े गाढ तीव्र होते है। हे जीव! समय मात्र के लिये भी प्रमाद मत कर।

दिन-दिन तुम्हारा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, तुम्हारे केश सफेद होते जा रहे है और तुम्हारी (कान, आँख नाक जीभ और शरीर) इन्द्रियों की शक्ति घटती जा रही है और तुम्हारा सब बल क्षीण होता जा रहा है। इसलिये हे जीव! एक समय के लिये भी प्रमाद मत कर।

अरुचि फोड़े-फुन्सी और विसूचिका आदि नाना प्रकार के आतङ्क शरीर को स्पर्श करते है और उसे बलहीन कर उसका विनाश कर देते है। इसलिये हे जीव! समय मात्र के लिये भी प्रमाद मत कर।

जब तक जरा वृद्धावस्था आकर पीड़ा नही पहुचाती जबतक रोग नही बढते जबतक इन्द्रियों की शक्ति क्षीण नही होती, हे जीव! तब तक धर्म कर ले।

जैसे कमल शरद ऋतु के निर्मल जल से भी निर्लिप्त रहता है वैसे ही तुम अपनी सारी आसक्तियो को छोड़ कर सब स्नेह बन्धन छिटका दो। हे जीव! समय मात्र के लिये भी प्रमाद मत करो।

यह जीव एक बार पृथ्वीकाय मे चला जाता है तो वहाँ उत्कृष्ट असंख्य काल तक वह बधा रहता है। और इसी तरह से जल, तेज और वायुकाय मे गया हुआ वहीं असंख्यात काल तक वास करता है। और अगर जीव वनस्पतिकाय मे चला जाता है तब तो उत्कृष्ट अनन्त काल तक—जिसका बड़ी कठिनता से अन्त होता है—उसे वही रहना पड़ता है। त्रस -द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरेन्द्रिय मे गया हुआ जीव भी वहीं उत्कृष्ट कालतक रहता है। ऐसी हालत मे हे जीव! मनुष्य भव पाकर एक क्षण के लिये भी प्रमाद मत कर।

राते नही फिरतीं मनुष्य भव बार-बार हाथ नही आता।

देखो ! युवक और बूढे ही नही गर्भस्थ बालक तक भी चल बसते हैं। जैसे बाज, पक्षी को हर लेता है, वैसे ही आयु शेष होने पर काल जीवन को हर लेता है इसलिये हे जीव ! समय मात्र के लिये प्रमाद मत कर।

मनुष्य जीवन की दुर्लभता को सोच कर धर्म की आराधना करो। यह मनुष्य भव धर्म की आराधना के लिये ही मिला है।

यह संसार भीतर ही भीतर सुलग रहा है और जोरों से जल रहा है तथा जन्म मरण के दुःख से व्याकुल है। जैसे गृहपति जलते हुए घर मे से सार चीजों को निकाल लेता है वैसे ही इस जलते हुए संसार मे से अपनी प्रिय और इष्ट आत्मा बचा लो।

काम भोग क्षणिक सुख वाले और अनन्त कालीन दुःख देने वाले हैं। जैसे जलते हुए चूल्हे को छोडने मे ही बुद्धिमानी है वैसे ही विषय सुखो से दूर होने मे ही आत्म-सुख है।

जरा और मरण के वेग में बहते हुए जीवों के लिये धर्म ही एक मात्र द्वीप है, वही प्रतिष्ठा है, वही गति है और वही उत्तम शरण है।"

इस तरह के वास्तविक परिस्थिति को प्रकट करने वाले अमूल्य उपदेश के द्वारा भगवान ने भूली हुई जनता के पुरुषार्थ को जगा दिया। उस समय बहु विवाह की प्रथा प्रचलित थी। भगवान के उपदेश को सुन कर और उससे प्रवाहित होकर एक नही परन्तु अनेक सर्वाङ्ग सुन्दर, उत्तम कुल और शीलवाली नारियों को छोड कर युवक दीक्षित होने लगे। सन्यास के पहले वानप्रस्थ जीवन—आश्रम को भगवान ने तोड दिया। भगवान के संघ मे विवाहित युवक ही अपनी स्त्रियों को छोड छोड कर भर्ती नही हुए, परन्तु आसन्न भोगों को ठुकरा कर भी बहुत से दीक्षित हुए। एक ओर कृष्ण, गज सुकुमार की, सगाई पक्की करते है और दूसरी ओर नर पुङ्गव गज सुकुमार दीक्षा लेने की ठानता है। इस तरह गार्हस्थ जीवन की कडी भी भगवान ने तोड दी। भोग भोग कर फिर त्यागी बनने की परिपाटी टूट गई। केवल अविवाहित कुमार ही भगवान के संघमे साधु न बने परन्तु अतिमुक्तक जैसे विचक्षण बालकों को भी भगवान ने दीक्षा दी थी। इस तरह वेदाभ्यास के आश्रम को भी उठा दिया। भगवान महावीर के संघ मे १४००० साधु और ३६००० साध्वियाँ थी, उनमे से सैकडों का ही जीवन-

वृत व नाम मिलता है। जो नाम उपलब्ध हैं उनमे बालक, वृद्ध व युवक-स्त्री पुरुष दोनों प्रकार के साधु मिलते हैं।

भगवान ने जो क्रान्ति उठाई वह उन्ही के जीवन काल मे सफल हुई। आश्रम व्यवस्था के स्थान पर अपने अपने बल व सामर्थ्य का जमाना आ गया। जिसमे सामर्थ्य होती और अपनी आत्मा की रक्षा करने की तीव्र कामना होती वह बालक होने पर भी दीक्षा का पात्र होता था। और सामर्थ्य हीन वृद्ध कामभोग का अनुभव कर चुका होने पर भी दीक्षा के लिये अपात्र ठहरता था।

पाठक देखेंगे कि बाल-दीक्षा और युवक दीक्षा आश्रम भेद के विरुद्ध मे उठाई हुई क्रान्ति के ही परिलक्षण थे। अपनी क्रान्ति को चूडान्त पर पहुचाने के लिये भगवान ने बालक और युवक दोनों की दीक्षा—दोनों के सन्यास ग्रहण के मार्ग को खोल दिया। अपने हाथों से ऐसी दीक्षाएं दी।

इसपर से पाठक देख सकेंगे कि जैन धर्म जैसे आत्मवादी धर्म के लिये बाल-दीक्षा एक सहज प्रसग था और जन्म मरण की वास्तविकता को समझ लेने पर आज भी वह वैसा ही सहज प्रसंग हो सकता है। जब बालक अतिमुक्तक दीक्षा के लिये माता-पिता की आज्ञा लेने के लिये गया तो वे कहने लगे—"भाई! तू अभी छोटा है, अनसमझ है। धर्म सम्बन्ध मे तू क्या जान सकता है?" बालक अतिमुक्तक कहता है "हे माता-पिता! मैं जो जानता हू, वह नही जानता, और जो नही जानता वह जानता हू।"

जब माता-पिता ने आश्चर्य प्रकट कर विशेष जानने की इच्छा प्रकट की तब बालक बोला :—"हे माता-पिता! मैं इतना जानता हू कि जो जन्म लेता है वह अवश्य मरता है, परन्तु कब, कहाँ, किस प्रकार और कितने समय के बाद मरना है, वह मैं नहीं जानता। जीव किन कर्मो से नरक, पशु, पक्षी, देव, मनुष्य आदि योनियों मे उत्पन्न होता है, वह मैं नही जानता, परन्तु अपने कर्मो से ही जीव अपनी अपनी [illegible] उत्पन्न होते हैं, यह मैं जानता हू।"

यह कह बालक ने फिर दीक्षा के लिये आज्ञा मांगी। जन्म-जरा-मृत्यु के भय से बालक भयभीत था। ससार से उसे उदासीनता हो चुकी थी। जन्म-मरण की वास्तविकता को समझने से वह दीक्षा के लिये समुद्यत हुआ। घर मे मौजूद भोगों की ओर उसका झुकाव नही हुआ।

दीक्षा के कई प्रसग ऐसे भी मिलते हैं, जिनमे घर वालो की बात छोडिये, राजा तकातक आते हैं और दीक्षा से पराङ्मुख करने की चेष्टा करते हुए कहते

है :—"हे देवानुप्रिय तू भोगों का त्याग क्यों करता है ? मेरी छाया में रहकर तू सुख पूर्वक भोग भोग। तुझे कोई तकलीफ हो तो मुझे कह। मैं तुम्हारी सब तकलीफों को दूर करूँगा।" जवाब मिलता है —"हे देवानुप्रिय ! 'जो तुम जीवन को नाश करने वाली मृत्यु का निवारण कर सकते हो, और शरीर के सौन्दर्य को विनाश करने वाली वृद्धावस्था को रोक सकते हो, तो जरूर तुम्हारी छाया मे रह कर काम भोगों का भोग करूं'।"

देव और दानव भी जिस मृत्यु को नही रोक सकते, उसे रोकने का कौन भरोसा दे सकता है ? —हता

है :—"मैं मृत्यु भय की रोग

के सम्स्कारों का त्याग क

दीक्षार्थी मृत्यु-भय ता है

और वैराग्य के लि लक

भी ... परम साध वी

जैन धर्म में कोई वा

मुद्रक—

महालचन्द बयेद

ओसवाल प्रेस

१८६, क्रोस स्ट्रीट, कलकत्ता।